प्रतिमान

समय समाज संस्कृति

प्रवेशांक : जनवरी-जून, 2013 (वर्ष 1, खण्ड 1, अंक 1)

समाज-विज्ञान और मानविकी की पूर्व-समीक्षित अर्धवार्षिक पत्रिका

भारतीय भाषा कार्यक्रम

विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सीएसडीएस)
29, राजपुर रोड, दिल्ली-10054 फोन : 91.11. 23942199
ईमेल : pratiman@csds.in; वेबसाइट : www.csds.in/pratiman

+

वाणी
प्रकाशन
21-ए, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002 फोन : 91.11.23273167, 23275710
ईमेल : vaniprakashan@gmail.com; वेबसाइट : www.vaniprakashan.in

सेंटर फॉर दि स्टडी ऑफ़ डिवेलपिंग सोसाइटीज़, 29, राजपुर रोड, दिल्ली-110054 के निदेशक राजीव भार्गव के लिए प्रकाशक एवं मुद्रक अमिता महेश्वरी, वाणी प्रकाशन, 21-ए, 4965, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002 द्वारा प्रकाशित और ऑप्शन प्रिंटोफास्ट, 41, पटपड़गंज इंटस्ट्रियल एरिया, दिल्ली-110092 में मुद्रित। सम्पादक : अभय कुमार दुबे

अनुक्रम

महादेवी

क्या हमारे मगध की मौलिकता में कुछ कमी है?

बारह साल पहले विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सीएसडीएस) के भारतीय भाषा कार्यक्रम ने हिंदी में व्यवस्थित अनुसंधानपरक चिंतन और लेखन को बढ़ावा देने की कोशिशें शुरू की थीं। अब यह उद्यम अपने दूसरे चरण में पहुँच गया है। पहला दौर मुख्यत: अंग्रेज़ी में और यदा-कदा अन्य भारतीय भाषाओं में लिखी गयी बेहतरीन रचनाओं को अनुवाद और सम्पादन के ज़रिये हिंदी में लाने का था। इसमें मिली अपेक्षाकृत सफलता के बाद अंग्रेज़ी से अनुवाद और सम्पादन पर ज़ोर क़ायम रखते हुए भारतीय भाषाओं में भी समाज-चिंतन करने की दिशा में बढ़ने की ज़रूरत महसूस हो रही थी। लेकिन इस पहलक़दमी के साथ व्यावहारिक और ज्ञानमीमांसक धरातल पर एक रचनात्मक मुठभेड़ की पूर्व-शर्त जुड़ी हुई थी। सीएसडीएस के स्वर्ण जयंती वर्ष में समाज-विज्ञान और मानविकी की अर्धवार्षिक पूर्व-समीक्षित पत्रिका ***प्रतिमान*** *समय समाज संस्कृति* का प्रकाशन इस शर्त की आंशिक पूर्ति कर सकता है। पिछले कुछ वर्षों में अध्ययन-पीठ में अंग्रेज़ी के साथ-साथ हिंदी में भी लेखन करने वाले विद्वानों की संख्या बढ़ी है। साथ ही भारतीय भाषा कार्यक्रम के इर्द-गिर्द कुछ युवा और सम्भावनापूर्ण अनुसंधानकर्त्ता भी जमा हुए हैं। ***प्रतिमान*** का मक़सद इस जमात की ज़रूरतें पूरी करते हुए हिंदी की विशाल मुफ़स्सिल दुनिया में फैले हुए अनगिनत शोधकर्त्ताओं तक पहुँचना है। समाज-चिंतन की दुनिया में चलने वाली सैद्धांतिक बहसों और समसामयिक राजनीतिक-सामाजिक-सांस्कृतिक विमर्श का केंद्र बनने के अलावा यह मंच अन्य भारतीय भाषाओं की बौद्धिकता के साथ जुड़ने के हर मौक़े का लाभ उठाने की फ़िराक़ में भी रहेगा।
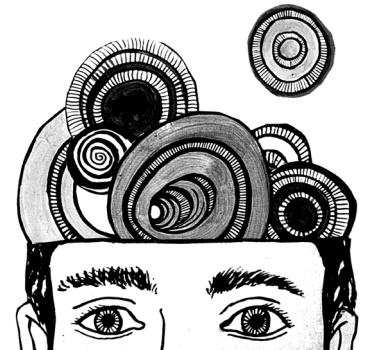
हमें यक़ीन है कि हिंदी के मगध में मौलिकता की कमी नहीं है। यहाँ गम्भीरता की विपुलता है, रचनात्मकता की बेचैनियाँ हैं और विचार की ग्लोबल साहित्येतर दुनिया में जाकर अंतर्दृष्टियाँ टटोलने की इच्छा भी है। लेकिन साथ में एक प्रश्न भी जुड़ा है कि आख़िर इस मौलिकता की प्रकृति क्या है ? लगता है कि यह मौलिकता कहीं न कहीं अपने-आप में डूबी हुई एक क़िस्म की स्वयंभू ख़्यालगोई में फँसी हुई है। रचनाकारों के पास अपनी दावेदारियों के लिए बौद्धिक प्रमाण जुटाने और एक सीमा तक निरपेक्ष तार्किकता के आधार पर एक पूरे विमर्श का शीराज़ा खड़ा करने का उद्यम और कौशल नहीं है। इसका ताज़ा सबूत हमें पिछले पच्चीस-तीस साल में हिंदी की अव्यावसायिक पत्रिकाओं (जिन्हें लघु-पत्रिका भी कहा जाता है) में प्रकाशित अकूत और नानाविध सामग्री के रूप में मिलता है। यह सामग्री मौलिकता और अनुवाद का मणिकांचन संयोग दिखाती है। कभी ये पत्रिकाएँ केवल साहित्यिक हुआ करती थीं, लेकिन अब उत्तरोत्तर वैचारिक लेखन से भरते जा रहे पृष्ठों के कारण इनका चरित्र बदलता जा रहा है। ये हिंदी के लाखों-लाख पाठकों को वह बौद्धिक ख़ुराक देती हैं जो केवल रचनात्मक साहित्य से नहीं मिल सकती। हिंदी में पैदा हो रहा यह ज्ञान आमतौर पर विश्वविद्यालयों और शोध संस्थानों की अंग्रेज़ी में सिमटी हुई दुनिया की निगाहों से ओझल रहा है। लेकिन हमारा आकलन है कि अभिव्यक्ति और संरचना के लिहाज़ से शोध की स्थापित प्रविधियों से अपरिचित होने के बावजूद इस अदृश्य ज्ञान के भीतर समाज-चिंतन के व्यवस्थित उद्यम की आहटें हैं। भारतीय भाषा कार्यक्रम ***प्रतिमान*** के ज़रिये इन्हीं पहलुओं को एक सुचिंतित रचना-प्रवाह में विकसित करने के लिए हिंदी की मौलिकता में व्यवस्थित अनुसंधानपरकता के मूल्यों का समावेश करने की कोशिश करेगा।

पत्रिका के नाम से यह अंदेशा पैदा हो सकता है कि कहीं हम समय, समाज और संस्कृति के बने-बनाये प्रतिमान तो नहीं परोसना चाहते हैं ? या हम कोई नया प्रतिमान गढ़ कर हिंदी के बहुकेंद्रीय संसार को उसकी शृंखलाओं में बाँधने के फेर में तो नहीं हैं ? दरअसल विचारों के जगत में प्रतिमानों की इस विवादास्पद भूमिका के उलट हमारी दिलचस्पी हर धरातल पर प्रतिमानों और उनकी सम्भावनाओं के बीच होने वाले उस परस्पर अनुवाद में है जिसकी तरफ थॉमस कुन ने भी एक इशारा किया था। फिर चाहे वह विचार का प्रश्न हो, अनुसंधानपरकता का सवाल हो या उसकी पद्धतिमूलकता का हो। हिंदी के वैचारिक संसार में हस्तक्षेप करने के साथ-साथ हमारा एक प्रमुख सरोकार समाज-विज्ञान (राजनीतिशास्त्र, समाजशास्त्र, मानवशास्त्र और अर्थशास्त्र आदि) और मानविकी (दर्शनशास्त्र, इतिहास, साहित्य और साहित्यालोचना) के अनुसंधानपरक और पद्धतिमूलक प्रतिमानों का अंतर्गुम्फन भी है। इसमें कई स्थापित प्रतिमानों को अस्थिर करने की दूरस्थ सम्भावना है। अगर यह कोशिश हम लम्बे अरसे तक चला पाये तो धीरे-धीरे प्रत्यक्षवाद (पॉज़िटिविज़म) द्वारा उठायी गयी उस दीवार के दरकने की

एक उम्मीद है जिसने सोच-विचार की दुनिया को संस्थागत पैमाने पर बाँट रखा है। इस लिहाज़ से इस पत्रिका के साथ समाज-विज्ञान और मानविकी के बँटवारे से परे जाकर समाज-चिंतन के समग्र और एकीकृत दायरे की नुमाइंदगी करने वाले भविष्य की कल्पना के सूत्र भी जुड़े हैं। चूँकि इस विभाजन की व्यावहारिक और संस्थागत जड़ें बहुत गहरी हैं, इसलिए इस पुराने कमरे से बाहर निकलने के लिए हमें अभी बहुत से क़दम इस कमरे के भीतर ही रखने पड़ेंगे।

बहु-अनुशासनीयता के उदय ने व्यवस्थित चिंतन के ऊपर प्रत्यक्षवाद की जकड़बंदी एक बड़ी हद तक ढीली की है। ज्ञान-रचना के परस्पर-व्यापी उपक्रमों की चमकदार सफलताओं के प्रभाव में आज प्रत्यक्षवाद का बचाव करने वाली आवाज़ें तक़रीबन ख़ामोश हो चुकी हैं। स्त्री-अध्ययन, संस्कृति-अध्ययन, सेक्शुअॅलिटी-अध्ययन, साहित्य-अध्ययन, नागर-अध्ययन और मीडिया-अध्ययन जैसे नये क्षेत्रों की अनुशासन-बहुल ज़मीन की यह उपलब्धि उल्लेखनीय है। लेकिन अनुशासनबहुलता की यह कहानी अगर अपने-आप में काफ़ी होती तो समाज-विज्ञान की दुनिया ग्लोबल पैमाने पर आम तौर से और भारतीय संदर्भ में ख़ास तौर से उस संगीन संरचनात्मक संकट का सामना न कर रही होती जिसे कई संबंधित सर्वेक्षणों और रपटों ने हाल के दिनों में उजागर किया है। आज के ज़माने का सृजनशील समाज-चिंतक प्रत्यक्षवाद की आक्रामकता के निष्प्रभावी हो जाने के बावजूद उसके अवशेषों से किस क़दर उत्पीड़ित महसूस करता है, इसका प्रमाण इस अंक में छपे कई लेखों से भी मिलता है। इसी परिस्थिति के मद्देनज़र अनुशासनबहुलता में रमते हुए उससे परे जाने की हमारी इस कोशिश में कम से कम तीन लिहाज़ों से कुछ नयी बात है। पहली तो यह कि अंतरानुशासनीयता द्वारा प्रत्यक्षवाद को दी गई अप्रत्यक्ष चुनौती के बरक्स हम यह काम घोषणापूर्वक और आत्म-सचेत ढंग से करने जा रहे हैं। यह सही है कि भारतीय भाषा कार्यक्रम में सक्रिय हम सभी लोग अभी तक समाज-विज्ञान और मानविकी के विभिन्न ख़ानों में फ़िट रहे हैं और निकट भविष्य में भी स्थिति ऐसी ही रहने वाली है। लेकिन ख़ुद को समाज का वैज्ञानिक और अपने उद्यम को समाज का विज्ञान न कहने की यह छोटी सी शुरुआत इस आशा के साथ की जा रही है कि शायद इससे हमारी आत्मनिष्ठता में कुछ तब्दीली हो। आख़िर हमारी अपनी आँखों में भी तो हमारी पहचान बदलनी चाहिए। दूसरी और कहीं ज़्यादा अहम बात यह है कि हमारा यह प्रयास मुख्य रूप से हिंदी और आम तौर से भारतीय भाषाओं के धरातल पर नियोजित है। वैकल्पिक ज्ञानमीमांसा की चर्चाएँ कई बार होती रही हैं और उन्होंने ज्ञान के क्षेत्र में हलचलें भी मचायी हैं, पर उन दावेदारियों में अंग्रेज़ी के दायरे का अतिक्रमण करके भारतीय भाषाओं की ज़मीन स्पर्श करने से पहले ही ठिठक जाने की प्रवृत्ति रही है। दरअसल भारतीय भाषाएँ हमें एक ऐसा धरातल मुहैया कराती हैं जहाँ अंग्रेज़ी में ज्ञान-रचना की स्थापित और काफ़ी हद तक प्रत्यक्षवाद से आक्रांत शर्तों से कतराते हुए हम नई चिंतनशीलता के सूत्रों को अधिक सृजनात्मकता के साथ

टटोल सकते हैं। यह काम हिंदी और भारतीय भाषाओं के धरातल पर ही अधिक स्वाभाविक और सकारात्मक ढंग से किया जा सकता है। इस दावे के पीछे कुछ ठोस कारण हैं।

भारतीय भाषाएँ पिछले तक़रीबन सौ साल से सामाजिक-राजनीतिक वैचारिक लेखन का समृद्ध संसार रच रही हैं। इस दुनिया में न तो मौलिकता के नाम पर अनुवाद-विरोधी आग्रह छाये हुए हैं, और न ही अनुवाद को सब कुछ समझ मौलिकता को ग़ैर-ज़रूरी क़रार दिया गया है। इस ज़मीन का व्यवस्थित संधान कुछ नयी सम्भावनाओं से हमारा साक्षात्कार करा सकता है। अंग्रेज़ी में होने वाली ज्ञान-रचना के बरक्स ऐसे ही किसी उद्यम की संभावनाओं पर उँगली रखते हुए बीसवीं सदी के पूर्वार्ध में दार्शनिक कृष्णचंद्र भट्टाचार्य ने कहा था, 'नये विचार एक फ़ैशन के तहत ग्रहण किये जा रहे हैं। उन्हें समझने और प्राप्त करने की प्रक्रिया कल्पना के धरातल पर चलती है। वे भाषा और कुछ आरोपित संस्थाओं में जड़ीभूत हैं। इस भाषा या इन संस्थाओं में बौद्धिक क़वायद करने से एक तरह के चिंतन की आदत पड़ जाती है। एक ऐसे चिंतन की जो लगता तो वास्तविक है, पर होता है आत्माहीन। ... हमारे विचारों के संकरीकरण का प्रमाण यह है कि हमारे शिक्षित लोग देशी भाषा और अंग्रेज़ी की हैरतअंगेज़ खिचड़ी में एक-दूसरे से बात करते हैं। ख़ास तौर पर सांस्कृतिक विचारों की अभिव्यक्ति करने के लिये हमें पूरी तरह से देशज भाषा का उपयोग करना बहुत ही मुश्किल लगता है। मसलन, अगर मुझसे आज का पूरा विमर्श बांग्ला में करने के लिए कहा जाता तो मुझे इसके लिए अच्छी-ख़ासी मशक़्क़त करनी पड़ती। ... शायद यह संक्रमण के दौर की स्थिति है। मेरी मान्यता है कि अगर हम भाषा की यह बाधा पार कर लें तो विचारों का स्वराज हासिल करने की दिशा में एक बड़ा क़दम बढ़ाया जा सकता है।'

अगर विचारों का स्वराज हासिल करना है तो ज्ञान-रचना को मुट्ठी-भर अंग्रेज़ीदाँ समाज-वैज्ञानिकों, इतिहासकारों और दार्शनिकों के संकुचित दायरे से निकालना ही होगा। विचारों का स्वराज ज्ञान-रचना के लोकतंत्रीकरण की माँग करता है। अनुसंधानपरक व्यवस्थित चिंतन अपना नवीकरण इसलिए भी नहीं कर पा रहा है कि सिर्फ़ अंग्रेज़ी में होने के कारण उसका नाता भारतीय भाषाओं से और इस प्रकार बृहत्तर भारतीय समाज से बहुत कमज़ोर हो चुका है। इक्का-दुक्का कुशाग्र प्रेक्षणों और सूत्रीकरणों को छोड़ कर वह ज़्यादातर पश्चिम द्वारा थमाये गये सैद्धांतिक आईनों में ही समाज को देखता रहा है। इन आईनों को बनाने में समाज की भूमिका अपवादस्वरूप ही है। भारतीय भाषाओं की ज़मीन पर ही ज्ञान-रचना के लोकतंत्रीकरण की सम्भावना अंकुरित हो सकती है।

पत्रिका के पहले अंक का विशाल कलेवर बौद्धिक भूख के उस पहाड़ का परिचायक है जो पिछले दस साल से धीरे-धीरे विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सीएसडीएस) के भारतीय भाषा कार्यक्रम में और उसके इर्द-गिर्द सक्रिय विद्वानों के भीतर उगता जा रहा था। इस बीच हमने जिन

पेचीदा सवालों का सामना किया, उनकी एक बानगी देखने लायक है। एक आश्चर्यजनक मासूमियत के साथ हमसे पूछा गया कि हिंदी में लिखने से क्या होगा, क्योंकि अंग्रेज़ी में तो सारा काम चल ही रहा है। इस सवाल का जवाब अंग्रेज़ी के महानगरीय प्रभुत्व के परे मौजूद मुफ़स्सिल भारत (जहाँ का सारा बौद्धिक कार्य-व्यापार भारतीय भाषाओं में ही चलता है) की विराट हक़ीक़तों की तरफ इशारा करके दिया जा सकता है। लेकिन प्रश्नों का दूसरा सिलसिला ज्ञानमीमांसा और संज्ञानात्मक उद्यम के धरातल से आया था। हमसे पूछा गया कि हिंदी या किसी अन्य भारतीय भाषा में ज्ञान-रचना से हमें किस तरह के संज्ञानात्मक लाभ की अपेक्षा है? क्या यह लाभ अंग्रेज़ी में लिखने से होने वाले लाभ से भिन्न होगा? इस लाभ को हम कैसे नापेंगे? भारतीय भाषाओं में उपलब्ध दस्तावेज़ों, ग्रंथों और अन्य सामग्री की तह में जा कर अंग्रेज़ी में ज्ञान-रचना करते रहने से हमें वह कौन सी ज्ञानमीमांसक उपलब्धि नहीं हो रही है जो हिंदी या किसी अन्य भारतीय भाषा में समाज-चिंतन अभिव्यक्त करने से होने लगेगी?

भारतीय भाषा कार्यक्रम जैसी कोशिशों में लगे सभी विद्वानों को इन सवालों पर गहराई से ग़ौर करने की ज़रूरत है। इनके बने-बनाए जवाब मौजूद नहीं हैं। ***प्रतिमान*** के प्रकाशन की शुरुआत के इस ऐतिहासिक क्षण पर हम केवल यह कहने की स्थिति में हैं कि ज्ञान-रचना के मौजूदा मानचित्र को जिस ज्ञानमीमांसा और संज्ञानात्मकता की रेखाओं से बनाया गया है, वह पूर्व-निर्धारित अर्थों और तात्पर्यों की दिक् और काल से परे समझी जाने वाली स्याही से खींची गयी हैं। हमें तो नयी ज्ञानमीमांसा, उससे जुड़ी नयी संज्ञानात्मकता और तात्पर्यों के ऐसे नये परिक्षेत्रों का उत्पादन करना है जो भारतीय भाषाओं के सामाजिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक संसार की देन होंगे। थमायी गयी ज्ञानमीमांसा की जगह उस संज्ञानात्मकता को सम्भवत: आज के मुक़ाबले हम कहीं ज़्यादा अपना कह सकेंगे। शायद वह हमारा अपना प्रमाणशास्त्र होगा जिसके आधार पर हम थमाये गए तात्पर्यों की जाँच कर सकेंगे।

अपनी इसी दावेदारी को और पुष्ट करने के लिए *प्रतिमान* के इस पहले अंक की विविध सामग्री के केंद्र में ज्ञान-रचना का प्रश्न ही रखा गया है। इसीलिए हम एक प्राश्निक की भाँति किसी दूसरे से नहीं बल्कि श्रीकांत वर्मा के लहजे में अपने-आप से पूछ रहे हैं कि आख़िर हमारे मगध की मौलिकता के भीतर ऐसी क्या कमी है कि हमारी आधुनिकता के वितान में अंग्रेज़ी के बिना विमर्श और विचार कल्पनातीत हो जाता है? यह कोई नया सवाल नहीं है। इसे बीसवीं सदी के दूसरे दशक में दार्शनिक और योगी श्री अरविंद ने पूछा था। यही सवाल उसके कुछ वर्ष बाद तीसरे दशक में कृष्ण चंद्र भट्टाचार्य ने उठाया था। यही सवाल ए.के. रामानुजन ने अपने विशिष्ट खिलंदड़े अंदाज़ में इस तरह पूछा था कि क्या चिंतन का कोई भारतीय तरीक़ा है? ये तीनों दस्तावेज़ और उनका भाष्य यहाँ पेश है; और इस विषय पर बहस आगे के अंकों में भी जारी रहेगी। जो बातें श्री अरविंद, भट्टाचार्य और रामानुजन ने पूछी थीं, उन्हीं को कुछ दूसरे शब्दों और दूसरे लहजे

में समकालीन रोशनी में ***प्रतिमान*** के इस अंक में कई लेखकों ने पूछा है। मणींद्र नाथ ठाकुर ने ज्ञान की सामाजिक उपयोगिता के संदर्भ में, सदन झा ने अनुभव और ज्ञान की मिलती-अलग होती श्रेणियों के संदर्भ में, अमितेश कुमार ने सांस्कृतिक आधुनिकता की बनती हुई भारतीय संरचनाओं की रोशनी में, हिलाल अहमद ने समकालीनता की संरचना के सिलसिले में, मैंने भारतीय नारीवाद और राष्ट्रवाद के पश्चिम से भिन्न रिश्तों एवं त्रिदीप सुहृद ने आधुनिकता और परम्परा की गोधूलि वेला के संदर्भ में यही प्रश्न पूछा है।

प्रतिमान के लिए ताज़ा राजनीतिक माहौल पर विहंगम अकादमीय नज़र डालने की जिम्मेदारी दो वरिष्ठ समाजशास्त्रियों ने निभायी है। राजनीतिक-समाजशास्त्री धीरूभाई शेठ ने एक विस्तृत साक्षात्कार में नागरिक समाज की भारतीय संकल्पना, ग़ैर-दलीय राजनीतिक प्रक्रिया, भ्रष्टाचार विरोधी मुहिम और दलीय प्रणाली के गहन संकट पर कई विचारणीय बातें कही हैं। हाल ही में भ्रष्टाचार पर एक बेहतरीन पुस्तक रचने वाले योगेश अटल ने इस परिघटना के समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य की एक प्रस्तावना की है।

इस अंक में भारतीय पौरुष के दो अलग-अलग आयामों की रूपरेखा भी देखने को मिलेगी। चारु गुप्ता ने ऐतिहासिक शोध की प्रविधियों का बेहतरीन इस्तेमाल करके औपनिवेशिक ज़माने में बनते हुए दलित-पौरुष का संधान किया है, और अनामिका ने कविता में अपनी पैठ का लाभ उठाते हुए महादेवी वर्मा के विमर्श के बहाने एक स्वतंत्रचेता स्त्री के काम्य पुरुष की सम्भावनाओं का पता लगाने की कोशिश की है। रोहिणी अग्रवाल द्वारा हिंदी के चार उपन्यासों में पारिस्थितिकीय चेतना के विमर्श के विस्तृत बानगी पेश की गयी है। इस अंक में हाशियाग्रस्तता के विभिन्न पहलुओं की मीमांसा भी है। मसलन, बद्री नारायण यहाँ हाशियाग्रस्तों के भीतर हाशियाग्रस्त जीवन गुज़ार रहे महा-दलितों तक आरक्षण के लाभ न पहुँच पाने के ऐतिहासिक कारणों की खोजबीन करते दिखेंगे; मिथिलेश झा ने राष्ट्रीय भाषा के रूप में हिंदी के वर्चस्व के मुक़ाबले मैथिली भाषा के संघर्ष का इतिहास लिखा है; इंद्रजीत झा ने न्याय के विमर्श में उपेक्षित पड़े आदिवासियों की स्थिति पर उँगली रखी है, और कमल नयन चौबे ने आदिवासियों के अधिकारों को बचाने के लिए बने क़ानूनों की वस्तुस्थिति के अनुपलब्ध ब्योरे पेश किये हैं।

इस देश में संस्कृत सदियों तक प्रभु-भाषा रही है। आज उसकी स्थिति क्या है? क्या वह संग्रहालय की वस्तु बन कर रह गयी है? या उसकी शेष प्राणवत्ता के सूत्र समाज के साथ कहीं जुड़ते हैं? इन अहम सवालों के प्रगल्भ उत्तर राधावल्लभ त्रिपाठी ने सिमोना साहनी की महत्त्वपूर्ण पुस्तक *दि मॉडर्निटी ऑफ़ संस्कृत* के बहाने दिये हैं। पिछले बीस-पच्चीस सालों में भारतीय सामाजिक-राजनीतिक जीवन को मीडिया ने सबसे ज़्यादा बदला है। मीडिया की अपनी मंडी का तो विस्तार हो ही चुका है और उपभोग की वस्तु के रूप में वह ख़ुद को मंडी में बेच भी रहा है। इससे पैदा होने वाली असाधारण स्थितियों का लेखा-जोखा लेने वाले विनीत कुमार की रचना *मंडी में मीडिया* की समीक्षा तृप्ता शर्मा ने की है। इसी अंक में

आदित्य निगम ने पार्थ चटर्जी की बहुचर्चित थियरी 'राजनीतिक समाज' की सैद्धांतिक मीमांसा की है। अंकिता पाण्डेय ने भारत में नागरिकता के विमर्श का एक ज्ञानवर्धक सर्वेक्षण किया है। विकासशील समाज अध्ययन पीठ साठ के दशक से ही चुनाव-अध्ययन में असाधारण योगदान के लिए जाना जाता है, इसलिए भारत में इस अनुशासन के विकास के इतिहास और चुनौतियों के संजय कुमार द्वारा प्रस्तुत विस्तृत तख़मीने के बिना यह अंक पूरा नहीं हो सकता था। इस अंक के पाठकों को दो लेखों में गुजराती हिंदी का स्वाद मिलेगा। हमने भरसक कोशिश की है कि किरन देसाई (गुजराती भाषा में समाज-विज्ञान) और त्रिदीप सुहृद की हिंदी से फूटने वाली गुजराती सुगंध को वैसे का वैसा ही रहने दिया जाए।

तक़रीबन पाँच सौ पृष्ठ के इस अंक में अंग्रेज़ी से अनुवाद केवल तीन हैं। अंत में कन्नड़ के विख्यात नाट्यकार और हिंदी फ़िल्मों के श्रेष्ठ अभिनेता-निर्देशक गिरीश कारनाड की आत्मकथा *अडाडाता आयुष्य* के पहले अध्याय 'प्राक्' का सीधे कन्नड़ से अनुवाद करके प्रकाशित किया गया है। इस अध्याय में हमारे निकट अतीत की एक साहसी और सम्प्रभु महिला की कहानी दर्ज है जिसने अपने ज़माने में आज की नारीवादी आधुनिका जैसा आचरण करने की हिम्मत जुटाई थी।

दस साल पहले इन्हीं दिनों एक वासंती शाम के साये में प्रोफ़ेसर पार्थ चटर्जी ने अध्ययन पीठ के हरे-भरे लॉन में भारतीय भाषा कार्यक्रम का उद्घाटन करते हुए हमसे समाज-चिंतन की द्विभाषी दुनिया रचने की अपील की थी। आज अपनी इस संस्था के पचास साल पूरे हो जाने पर हो रहे स्वर्ण जयंती समारोहों के बीच समाज-चिंतन की पूर्व-समीक्षित पत्रिका के प्रकाशन के साथ ही हम एक ऐसे मुक़ाम पर पहुँच गये हैं जिस पर खड़े होकर कहा जा सकता है कि हमारे पास दिखाने के लिए कुछ मामूली-सी उपलब्धियाँ हैं, और अमल करने के लिए एक लम्बा और श्रमसाध्य कार्यक्रम है। गहरे और अथाह समुद्र में प्रकाशस्तम्भ की नन्हीं रोशनी कहीं बहुत दूर टिमटिमा रही है। योगी श्री अरविंद की अपेक्षाओं को हमें हमेशा याद रखना होगा कि हम हर विषय पर स्वतंत्रता और सार्थकता के साथ चिंतन करना सीखेंगे। सिर्फ़ सतह पर रुक जाने के बजाय तह तक जाएँगे। पूर्व-निर्णय, वाक्छल और पूर्वग्रह से बचते हुए हम बौद्धिक धरातल पर उन्मुक्त और अकुंठ गति प्राप्त करेंगे। इसके लिए हमें न केवल बारीकियों में उतरना होगा, बल्कि भारतीय बुद्धि के अनुकूल व्यापक निपुणता और बौद्धिक सम्प्रभुता भी हासिल करनी होगी।